स्कूल के ढाँचे में लोकतंत्र के प्रयोग

अमित और जयश्री

स्कूल के ढाँचे में लोकतंत्र के बारे में हमारे विचार एकाएक नहीं विकसित हुए। सन् 1999 में *आधारशिला* शुरू करते समय 'लोकतांत्रिक स्कूल' नामक अवधारणा, कम-से-कम हमारी जानकारी में भारत के किसी स्कूल में शामिल नहीं थी। ज़िन्दगी के अनुभवों से हम दोनों स्वविचारी और अपनी मर्ज़ी से निर्णय लेने वाले बन गए थे। आदिवासी संगठन, खेडुत मज़दूर चेतना संगठ में काम करने के अनुभव से इस प्रवृत्ति को और बढ़ावा मिल गया। आदिवासियों की प्रमुख समस्या यह थी कि उनके समाज, रीति-रिवाज़, जीवन मूल्य और उनके जीने या सोचने के तरीकों को जाने बिना, किसी बाहरी सत्ता ने उनके लिए ढेरों नियम-कानून बना दिए थे। इसके कारण उनके जीवन में बहुत सारी भयावह समस्याएँ पैदा हो गई थीं। सरकारी लोगों को आदिवासियों से ज़्यादा, इन नियमों को बनाए रखने में रुचि थी। बाहरी विचार और व्यवस्था इनके जीवन में इनकी सहमति से नहीं बल्कि सत्ता और ताकत के बल पर आई थी।

लम्बे समय तक ऐसे कार्यक्षेत्र में रहने के कारण हमारे मन में भी यह बात घर कर गई थी कि लोगों की बात सुनी जानी चाहिए और लोगों को अपनी ज़िन्दगी तय करने की छूट होनी चाहिए। नर्मदा बाँध के मुद्दे पर भी यही बात सामने आई कि देश के बड़े-बड़े शहरों और उद्योगपतियों द्वारा तय की गई तथाकथित विकास की अवधारणाओं के हिसाब से बड़े बाँधों की योजना बनी और लाखों लोगों को उसका खामियाज़ा भुगतना पड़ा। आज तक यह सिलसिला जारी है।

तो, किसी स्कूल में बच्चों की मर्ज़ी चलनी चाहिए, यह स्वाभाविक रूप से

हमें सही लगता था। यह पूरी तरह न भी सम्भव हो तो भी कम-से-कम कोई ज़ोर-ज़बर्दस्ती न हो उन पर, यह तो बहुत स्पष्ट था। *आधारशिला* शुरू करने के पहले जॉन होल्ट की किताब *बच्चे असफल क्यों होते हैं?* को पढ़ा था जिससे बच्चों को केन्द्र में न रखते हुए पाठ्यक्रम बनाकर उनपर थोपने के, उनके विकास एवं चरित्र पर क्या दुष्परिणाम होते हैं, वे भी समझ आए थे। शायद इसीलिए शुरू के सालों में हमारे लिए बच्चों से रोज़ पूछना कि आज क्या करना है, बहुत स्वाभाविक था। इस तरह से भी शिक्षा की शुरुआत हो सकती है, इस बात को समझने के लिए हमारा मन पहले से ही तैयार था। इसके लिए कोई बड़ी या लम्बी वैचारिक छलाँग हमें नहीं लगानी पड़ी।

तो इस मूल विचार से हमने काम शुरू किया कि यह जगह मूलतः बच्चों की है। जैसा पिछले लेख में साझा किया था कि सवेरे बच्चे हॉल में इकट्ठा होते थे और कुछ दैनिक गतिविधियों के बारे में सोच-विचार करते थे और फिर सब लोग उन्हें करने में जुट जाते थे। ऐसा नहीं था कि सब कुछ उनकी मर्ज़ी से चलता हो। काफी सारा समय पहले से तय कामों में भी जाता था।

स्कूल चलाने के अलग-अलग पहलुओं में बच्चों की राय को सामने लाने के लिए समय-समय पर कई तरीके अपनाए गए थे। ऐसे ही कुछ तरीके लागू करने के अनुभव इस लेख में आपसे साझा कर रहे हैं। इन्हें ही आधारशिला में लोकतंत्र के प्रयोगों के रूप में देखा जा सकता है।

पहली सीख

पहले साल तो हम बहुत जोश में थे। हमें लगा कि बच्चों से भी शिक्षकों का मूल्यांकन करवाना चाहिए। हमें मालूम था कि दिल्ली के एक स्कूल में यह होता था – बड़ी कक्षा के छात्रों का प्रिंसिपल के साथ एक पीरियड होता था जिसमें बच्चों से वे स्कूल के बारे में पूछते थे, जैसे परीक्षा छुट्टी के बाद हो या पहले? टीचर्स के बारे में भी पूछते थे। कोई-न-कोई खड़ा होकर किसी शिक्षक के बारे में बोल देता था। डस्टर मारना, ठीक-से न समझाना आदि। इससे, स्कूल में क्या चल रहा है, उन्हें पता चलता था और बच्चों को अपने बड़े होने का अच्छा एहसास होता था। तो, हमें भी लगा कि बच्चों से पूछा जाए कि उन्हें पढ़ाई कैसी लग रही है, शिक्षक कैसा पढ़ा रहे हैं आदि। हालाँकि, शिक्षकों को मीटिंग करके समझाया गया था कि यह इसलिए किया जा रहा है ताकि हम सब और बेहतरी से बच्चों की मदद कर सकें, लेकिन जिस तरह बच्चों ने अपना फीडबैक दिया, उससे शिक्षक बहुत नाराज़ हो गए।

बच्चों ने पढ़ाने के तरीकों के बारे में तो कुछ नहीं कहा लेकिन शिक्षकों के व्यवहार के बारे में ज़रूर बोला,

जैसे, क्लास में गुटका खाकर आते हैं तो अच्छा नहीं लगता, या मारते हैं तो अच्छा नहीं लगता। शिक्षकों को यह बात बिलकुल अच्छी नहीं लगी कि शिक्षकों के बारे में ऐसी बातें करने के लिए बच्चों को उकसाया जाए। बच्चों को भी यह सन्देश मिला कि वे शिक्षक की शिकायत कर सकते हैं इसलिए उन्हें शिक्षकों की बात सुनना ज़रूरी नहीं है। बच्चे हमें शिक्षकों के ऊपर मानते थे और कहीं-न-कहीं यह हाइरार्की यानी सत्ता की व्यवस्था थी भी। जब बच्चों का सत्ता से सीधा सम्बन्ध बन गया तो उन्होंने शिक्षकों की बात सुनना एवं मानना कम कर दिया। इसलिए इस प्रयोग को रोक दिया गया। हम सबके लिए एक महत्वपूर्ण सीख यह थी कि लोकतंत्र के लिए बड़ों को अपने अहं को दूर करना पड़ेगा। बड़ों के लिए बराबरी स्वीकार करना बहुत कठिन होता है। सत्ताविहीन होने को स्वीकारना बहुत मुश्किल होता है। शिक्षकों के मन में 'शिक्षक' की एक स्टिरियोटाइप छवि थी जिसे हम शुरुआती दौर में तोड़ नहीं पाए।

दिनचर्या में बच्चों का योगदान

बच्चे अपनी दिनचर्या स्वयं ही तय कर सकें, इस बात की भी कोशिशें आधारशिला में लगातार होती रहीं।

यमुना और कावेरी ग्रुप के छोटे

बच्चों के साथ एक प्रयोग किया गया जिसे हम **'मेन्यू-कार्ड'** कहते थे। बच्चों को दिनभर की अपनी दिनचर्या तय करने के तरीकों के बारे में सोचते हुए, इस मेन्यू-कार्ड का आइडिया आया। जैसे रेस्त्राँ के मेन्यू-कार्ड में वहाँ उपलब्ध खाद्य पदार्थों की सूची होती है, और ये पदार्थ अलग-अलग श्रेणियों में बँटे होते हैं, जैसे - सब्ज़ियाँ, शाकाहारी, मांसाहारी, पेय पदार्थ आदि, वैसे ही सोचा गया कि क्यों न समस्त सम्भव कामों का एक मेन्यू-कार्ड बना दिया जाए जिसमें से बच्चे चुन सकें कि उन्हें क्या करना है। उस समय इन समूहों की शिक्षण सहयोगी, मजली थी। शिक्षण सहयोगी - यह नाम हमने दिया था। बच्चे मजली को

दीदी बुलाते थे और बाकी सब शिक्षक एक-दूसरे को टीचर ही बुलाते थे। मजली के माध्यम से इस मेन्यू-कार्ड पद्धति को लागू किया गया।

इसके लिए सबसे पहले हमने एक सूची बनाई, जिसमें बच्चों के साथ किए जाने वाले विभिन्न कामों को अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत लिखा गया, जैसे – लिखने के तहत यात्रा वृत्तान्त, निबन्ध, पत्र आदि, पढ़ने के तहत लाइब्रेरी से किताब पढ़ना, पाठ पढ़ना आदि, खेल खेलना, गीत गाना, चित्रांकन - रंगीन पेंसिल से या धागा ड्रॉइंग आदि, गणित के सवाल, घूमने जाना, अवलोकन, विज्ञान, सर्वे करना, कहानी सुनना, कविता याद करना... आदि। जो कुछ भी इतने सालों में किया गया था, वह सब सूची में लिख दिया गया। इस लिस्ट में लगभग 160 आइटम थे जिनमें से बच्चे चुन सकते थे। बच्चों के सामने यह मेन्यू-कार्ड एक पुष्टे पर चिपके कागज़ के रूप में था और इसी सूची को रजिस्टर में भी लिखा गया था जिसके आगे तारीखों के कॉलम बने थे।

रोज़ सवेरे जब मजली दीदी कक्षा में पहुँचतीं तो मेन्यू-कार्ड बच्चों के सामने रख देतीं और बच्चे आपस में तय करते कि आज उन्हें क्या-क्या करना है। एक समूह में 8-10 बच्चे ही होते थे इसलिए आपस में सहमति बनाना उतना कठिन नहीं होता था। लिस्ट के सामने बने कॉलम में, जो काम करने का तय होता था, उसके आगे सही का निशान लगा दिया

जाता। कॉलम के ऊपर तारीख लिखी होती थी। फिर सर्व-सहमति से ही टाइम टेबल बना लेते थे और लग जाते थे काम पर।

हम लोगों को मेन्यू-कार्ड की यह स्कीम इतनी जँच गई कि फिर ज़्यादा सोचने का काम नहीं रहा। ऐसा लगा कि अरे, कितना सरल और सुलभ तरीका है बच्चों की राय को शामिल करने का। हम पालकों को भी यही समझाते थे कि होटल में जो माँगते हो, वही मिलता है, तो बच्चे को खुद के लिए जो चाहिए, उसमें उसकी भी राय पूछने में क्या हर्ज़ है। शिक्षा भी तो दिमाग का भोजन है। वैसे काफी पालकों, खास तौर से माँओं ने तो कभी भी होटल में खाना नहीं खाया होता था लेकिन वे हमारी बातें मान लेते थे। हमारे व शिक्षकों के मन में यह आशंका तो थी कि इससे कोर्स कैसे पूरा होगा या यदि बच्चों ने खेलों को ही चुना तो क्या होगा आदि। लेकिन हमारा तरीका यह होता था कि कोई आइडिया अच्छा लग रहा है तो उसे करना तो शुरू करें, फिर जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाएँगे, उससे उभरने वाली समस्याओं से निपटते रहेंगे।

मेन्यू-कार्ड काफी अच्छा चला। बच्चे हालाँकि, अक्सर खेल चुनते थे लेकिन केवल खेल ही नहीं चुनते थे, औपचारिक पढ़ाई के काम भी चुनते थे। गुरुवार होते-होते उन्हें लिस्ट में दिखता था कि कौन-से कामों के आगे सही का निशान नहीं लगा है। फिर उन कामों को भी कर लेते थे। कई बच्चे कहते भी थे कि दीदी बहुत दिनों से गणित के सवाल नहीं किए, आज गणित ही ज़्यादा करते हैं। चूँकि मजली बचपन से ही आधारशिला में पढ़ी थी, वह नए तरीकों को अपनाने के लिए जल्दी ही तैयार हो जाती थी। किसी भी नए प्रयोग में शिक्षक का सहमत होना बहुत ज़रूरी होता है। मजली ने बताया कि बच्चों को यह बहुत अच्छा लग रहा है और हर समय बच्चों को चुप कराते रहने का टेन्शन भी नहीं रहता। जो काम बच्चे चुनते थे, उसे करने में लगे रहते थे। लेकिन बच्चे तो बच्चे ही होते हैं, बहुत बार नहीं भी करते, यह भी हमें जान लेना चाहिए।

ऐसा भी नहीं था कि मजली कुछ नहीं देखती थी। उसके पास भी एक कार्यक्रम होता था कि महीने में क्या काम खत्म करना हैं। वह भी मेन्यू-कार्ड पर नज़र रखती थी और जब उसे लगता था कि कोई विषय पीछे छूट रहा है तो उसे अपनी ओर से दिनचर्या में जोड़ देती थी। यह इसलिए भी ज़रूरी था क्योंकि अन्ततः बच्चों के माता-पिता का आग्रह होता था कि बच्चों को परीक्षा में बिठाना है। उस समय पाँचवीं में पहली बोर्ड परीक्षा होती थी। तो कुछ हद तक बच्चों को स्कूल की बोझिल किताबें पढ़ने, समझने, प्रश्न-उत्तर हल करने और लिखने का अभ्यास करवाना भी ज़रूरी था।

कुल मिलाकर, यह कह सकते हैं कि यह प्रयोग सफल रहा। यह समझ में आया कि हम बच्चों से बहुत आसानी-से यह तय करवा सकते हैं कि वे कक्षा में क्या करना चाहते हैं और उस तरह से रोज़ कक्षाएँ चल सकती हैं। बच्चे अपनी पढ़ाई के प्रति लापरवाह रहेंगे, खेल ही चुनते रहेंगे - ये आशंकाएँ भी गलत साबित हो गईं। जब बच्चों को पता चलता था कि परीक्षा आने वाली है तो वे उसके अनुसार ही टाइम टेबल बनाते थे और ज़्यादा पढ़ाई वाले काम चुन लेते थे। बच्चे खुद तय करें कि वे क्या सीखना चाहते हैं, यह बहुत अच्छा अनुभव था।

आपी-आपी

कई बार ऐसा भी होता था कि स्कूल शुरू होने के समय बच्चे फूल की क्यारियों में बैठकर कुछ करने लगते थे या फूल चुनकर, ज़मीन पर कुछ आकृतियाँ बना रहे होते थे। सर्दियों में अपनी-अपनी मेथी-पालक की क्यारियाँ बनाते थे या अपने पेड़ों में पानी डालते थे। एक बार तो स्कूल में झोपड़ियाँ बनाने का सिलसिला चल पड़ा तो सब उसी में भिड़े रहते थे। हम लोग कोशिश करते थे कि उन्हें डिस्टर्ब न करें और धीरे-से उन्हें पढ़ाई के कार्यक्रम में ले जाएँ। नए शिक्षकों को यह समझाते थे कि स्कूल में बच्चों का अपनी मर्ज़ी से किसी काम में लग जाना, एक बहुत आदर्श व्यवहार है। बच्चों की सहज प्रकृति होती है कि वे अपने लिए कुछ-न-कुछ काम ढूँढ लेते हैं। हमें उन्हें छूट देनी चाहिए और जो भी वे करें, उसे स्वीकार करना चाहिए। जैसे वे इन कामों में जुट जाते हैं, वैसे ही उन्हें पढ़ाई की प्रेरणा भी अपने आप मिलनी चाहिए।

असल में, जब हमारी बेटी छोटी थी तब वह बहुत कुछ आपी-आपी करती थी। वह बचपन से ही बहुत स्वतंत्र मिजाज़ की थी। शायद सब बच्चे होते हों लेकिन फिर इन सबको दूसरों द्वारा बनाए गए नियमों पर चलना सिखा दिया जाता है। खैर, बात यह थी कि बचपन में कुछ भी काम हो, चाहे नहाना हो या खाना, वह कहती थी - आपी-आपी। मतलब, उसे अपने आप करना है। यह शब्द हमें बहुत अच्छा लगा। किसी काम को अपने आप करना बहुत अच्छी बात तो हमें लगती ही थी, साथ ही, आपी-आपी करना, मतलब बच्चा या कोई भी उस काम की ज़िम्मेदारी भी स्वयं ले रहा है। उसके निर्णयों के लिए वह स्वयं ज़िम्मेदार है, यह बात एक लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए बहुत ज़रूरी है। लोकतंत्र की बात करते समय अक्सर हम केवल अपनी आवाज़ सुने जाने की बात ही करते हैं लेकिन ध्यान से सोचें तो जब हम अपने तरीके से जीने की चाहत रखते हैं तो अपने आप ही हम खुद ज़िम्मेदारी लेने की बात भी कर रहे

होते हैं। आपी-आपी पुस्तकों के प्रयोग को लोकतंत्र वाले इस लेख में डालना इसीलिए हमें उचित लगा।

कुछ बच्चे उम्र में बड़े होने के साथ-साथ पढ़ाई में भी ठीक-ठाक कौशल रखते थे। क्लास में तो सब बच्चों को एकसाथ लेकर आगे जाना होता है और सभी शिक्षक इस बात को भलीभाँति जानते हैं कि कक्षा में सबसे धीरे सीखने वाले और सबसे तेज़ सीखने वाले, दोनों तरह के बच्चे बोर होते रहते हैं। लेकिन आपी-आपी पुस्तिकाओं के माध्यम से यह समस्या हल हो जाती थी। सबसे पहले ये पुस्तकें तेज़ी-से सीखने वाले बच्चों के लिए बनीं जिनमें से एक था कमल (जो अर्थशास्त्र में पीएच.डी. करने के बाद अब सहायक प्रोफेसर है)। वह क्लास में बड़ा भी था और एक ही बार में बात समझ जाता था, और दिए गए सवाल तुरन्त हल करके बैठा रहता था। गणित और अँग्रेज़ी के लिए यह प्रयास किया गया। इन्हें हम हाथ से ही लिखकर दे देते थे। इन पुस्तिकाओं को बनाने में खास चुनौती थी कि निर्देश बहुत सरल भाषा में लिखने होते थे। इतने सरल जो बच्चे पढ़कर समझ सकें।

बाद में, इसी अनुभव से अँग्रेज़ी की बुक-1, बुक-2,...बुक-6 तक बनाई गईं जो फोनेटिक सिस्टम पर आधारित थीं। गणित की वर्कशीट भी बनाकर दीं। इन दोनों का अनुभव बहुत अच्छा था। इनको हल करने में बच्चे बहुत ही तल्लीन हो जाते थे। एक ही ग्रुप के बच्चे अलग-अलग लेवल की वर्कशीट या अँग्रेज़ी किताब को अपने आप हल करते रहते थे। एक ही ग्रुप के अलग-अलग स्तर के बच्चे अपने हिसाब से प्रगति करते थे। यदि

अधिकतर बच्चे वर्कशीट खत्म कर लेते और कुछ ही बच्चों की नहीं हुई होती तो उन बच्चों को भी वर्कशीट खत्म करने की जल्दी होती थी। हालाँकि, शिक्षकों की ओर से ज़्यादा दबाव न होने के कारण, उन्हें कोई तनाव नहीं होता था। बाद में तो अँग्रेज़ी और गणित के टाइम टेबल भी इन्हीं स्तरों के हिसाब से बनते थे। एक स्तर के बच्चे एकसाथ हो जाते, चाहे वे किसी भी ग्रुप में हों। यह बहुत पेचीदा काम होता था लेकिन यह व्यवस्था चल पड़ी। बिना शिक्षक के भी बच्चे अपने आप काम करते रहते थे। शिक्षक का काम था – बच्चों के काम को जाँचना, न आए तो बताना और वर्कशीट-बुक पूरी हो जाने पर टेस्ट लेना।

व्यक्तिगत कार्यक्रम

आपी-आपी का ही एक और तरीका था, बच्चों द्वारा खुद के लिए व्यक्तिगत कार्यक्रम तय करना। तीसरे साल से बड़े बच्चों के साथ हमने यह प्रयोग करना शुरू किया था। हमें लगता था, बल्कि आज भी लगता है कि हर बच्चे को अपनी मर्ज़ी से सीखने का कार्यक्रम तय करना चाहिए। और हमारा काम है, वे जो भी सीखना चाहते हैं, उसमें उनकी मदद करें। बड़े बच्चों के ग्रुप में पाँच-छः बच्चे थे। उनसे बोला गया कि वे जो जानना चाहते हैं, वह सोचकर बताएँ। वे जो भी करना चाहते थे, वह इतना ज़बर्दस्त था कि आज भी हमें वे सवाल और कथन याद हैं।

महेश ने कहा कि वह मुर्गियों की भाषा पता करना चाहता है। यह तो हमने सोचा ही नहीं था कि ऐसा भी कुछ हो सकता है। कमल ने कहा कि चाँद पर ऑक्सीजन कैसे बना सकते हैं, यह सोचना है, जिससे वहाँ रह सकें। शायद उसने अखबार में कुछ पढ़ा हो या विज्ञान क्लास में बताई चाँद की बात उसके दिमाग में घर कर गई हो। वंदना को जानना था कि अँग्रेज़ कहाँ से आए, कैसे आए। राधेश का प्रश्न था कि लोग झगड़ा क्यों करते हैं। हम लोग तो इन प्रश्नों से ही इतने मुग्ध हो गए कि बच्चों द्वारा प्रश्न पूछने से ही सफलता का एहसास होने लगा था। दूरदराज़ गाँवों में रहने वाले, आदिवासी बच्चे भी कुछ भी सोच सकते हैं, और ऐसी बातें जानना चाहते हैं, इस विचार को प्रत्यक्ष साकार होते देखना हमारे लिए बहुत ही खुशी देने वाला और सीखने की माकूल जगह की ताकत का प्रतीक था।

महेश के लिए हम एक वॉकमैन रिकॉर्डर खरीदकर लाए जिसमें उसने मुर्गियों की अलग-अलग आवाज़ों को रिकॉर्ड किया। उसने हमें बताया कि मुर्गी अपने चूज़ों को खाने की तरफ ले जाने के लिए अलग आवाज़ निकालती है और यदि ऊपर चील आ गई हो तो बचने के लिए

दूसरी तरह की आवाज़। उसी से हमें यह भी पता चला कि मुर्गी की आँख ऐसी जगह होती है कि वह ऊपर और नीचे, दोनों ओर आसानी-से देख सकती है - नीचे खाना, ऊपर खतरा।

कमल के दिमाग में तो बहुत सरल-सा आइडिया था, चाँद पर ऑक्सीजन बनाने का - मिट्टी व पानी यहाँ से ले जाना और शुरुआत में वहाँ किसी काँच के कमरे में पेड़ लगा देना। वंदना को अपने प्रश्न का उत्तर अँग्रेज़ों वाले पाठ की चर्चा में मिला जब जयश्री ने बच्चों के सामने वास्को ड गामा की जहाज़ी यात्रा का एक बहुत ही रोमांचक वर्णन प्रस्तुत किया। अँग्रेज़, एक व्यापक शब्द के रूप में था, किसी भी यूरोपीय विदेशी के लिए।

बाद में, बड़े ग्रुप के साथ भी व्यक्तिगत कार्यक्रम बनाने की कोशिश की गई। बच्चों से पूछा गया कि क्या वे कक्षा में किताबों से पढ़ना चाहते हैं या अपने आप किसी रुचि के विषय को आगे बढ़ाना चाहते हैं। कुछ बच्चों ने कहा कि वे अपनी रुचि से पढ़ना चाहते हैं जिसमें निलेश ने कहा कि वह पानी रोकने के काम के बारे में पढ़ना चाहता है। उसने और उसके एक साथी सुरेश ने न केवल, *आज भी खरे हैं तालाब* किताब को कुछ पढ़ा और देखा, बल्कि उन्होंने पानी रोकने के लिए खंतियाँ भी खोदीं। इनकी वजह से सबने ए-फ्रेम बनाया और कॉन्टूर रेखाओं के बारे में जाना।

प्रकाश की रुचि ऑरिगेमी में थी।

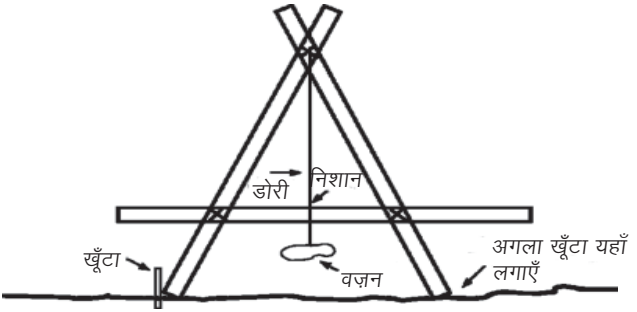

ए-फ्रेम एक सरल उपकरण है जिसका उपयोग भूमि पर समोच्च रेखाएँ (contour lines) चिह्नित करने के लिए किया जाता है, जो किसी स्थल की ढलान (गहराई और ऊँचाई) में होने वाले बदलावों को दर्शाती हैं। ए-फ्रेम दो लम्बी लकड़ियों से बना होता है जिन्हें ऊपर की ओर जोड़कर 'A' आकार दिया जाता है, और स्थिरता के लिए बीच में एक क्रॉसबार लगाई जाती है। इसके ऊपर के केन्द्र में एक डोरी के साथ वज़न या एक स्पिरिट लेवल लगाया जाता है। ज़मीन पर ए-फ्रेम को रखकर और उसे इस तरह घुमाकर कि डोरी क्रॉसबार के ठीक बीच में रहे (या स्पिरिट लेवल एकदम क्षैतिज हो), ए-फ्रेम की दोनों टाँगें समान ऊँचाई वाले बिन्दुओं को दर्शाती हैं। इस तरह भूमि पर समोच्च रेखाएँ खींची जा सकती हैं, जो पानी प्रबन्धन और मिट्टी कटाव रोकने में मदद करती हैं। चित्र इंटरनेट से साभार।

उसने लाइब्रेरी से ऑरीगेमी की दो किताबें निकालीं और दोनों किताबों की सभी आकृतियाँ उसने बना लीं। हम लोग काफी चकित थे कि उसने कैसे उनके सारे संकेत, जिनमें से कुछ तो काफी पेचीदा थे, याद करके स्वयं सीख लिए। अन्त में, उसने सेंधवा के, उस समय के एकमात्र अँग्रेज़ी माध्यम के सेंधवा पब्लिक स्कूल में जाकर शहर के बच्चों को ऑरिगेमी से कलाकृतियाँ बनाना सिखाया। यह सब हमारे लिए बहुत रोमांचक था और एक आदर्श शिक्षा व्यवस्था का प्रतीक भी। बाद में, इसी स्वशिक्षा के क्रम को आगे बढ़ाते हुए प्रकाश ने बाहर जाकर सोलर का काम भी सीखा। कई बच्चों को उनकी रुचि के काम सीखने के लिए अन्य संस्थाओं में भेजा गया जैसे अभिषेक पूना की एक संस्था में जानवरों के इलाज के बारे में सीखने गया, जमुना और रेवली हाथ से धागा और कपड़ा बनाना सीखने के लिए वेडछी के सम्पूर्ण क्रान्ति विद्यालय गईं। पुष्पेन्द्र और सारंग नासिक की अभिव्यक्ति संस्था में वीडियो एडिटिंग सीखने गए।

एक बार सभी समूहों के कुल मिलाकर बीस बच्चों ने अपना-अपना कार्यक्रम बना लिया। यह बात बहुत रोचक थी लेकिन हमारे पास उनके इन सब गूढ़ प्रश्नों और कामों को गाइड करने के लिए पर्याप्त जानकार लोग उपलब्ध नहीं थे। इस कारण व पालकों द्वारा बच्चों के परीक्षा में सफल होने के आग्रह के कारण, यह काम यहीं छूट गया। टाइम टेबल बनाने की समस्या भी नहीं सुलझ रही थी। आठवीं आते-आते वैसे भी बच्चे स्कूल की किताबें पढ़ने लगते थे क्योंकि बोर्ड की परीक्षा देनी होती थी।

क्लास से छूट!

एक बार हमने देखा कि बहुत-से बच्चे क्लास में नहीं बैठना चाहते थे, इसके बावजूद कि हमारे हिसाब से हम बहुत ही रोचक तरीके अपना रहे थे। जैसे एक बार हम एक कमरे में ज्वार के डण्डों से बने टाटले (ज्वार/बाजरे के डण्डों को बाँधकर और उसे लीपकर दीवार या छत के लिए बनाई जाने वाली संरचना) के बीच से कमरे के अन्दर आती सूर्य की किरणों को देख रहे थे और साथ ही यह अनुमान लगाने की कोशिश कर रहे थे कि यदि इनके पथ में एक आरसा रखा हो तो ये किरणें किधर जाएँगी। इतना मज़ेदार काम चल रहा था, फिर भी यह दिखा कि कुछ बच्चों का मन कहीं और था। वे कमरे के अन्दर-बाहर आ-जा रहे थे। अपनी ही बातों में लगे रहते थे। ऐसा कई दिनों से चल रहा था। हर समय ऐसा होता ही रहता था। आखिरकार हमने बच्चों से पूछा कि "क्या क्लास में बैठना अच्छा नहीं लगता? क्लास में जो चल रहा है, उसमें मज़ा नहीं आ रहा?" उन्होंने

कहा, "क्लास में बैठने का मन नहीं करता।" हमने पूछा, "कौन-कौन क्लास में नहीं बैठना चाहता?" तीन-चार बच्चों ने सहमे-से हाथ खड़ा कर दिया। "ठीक है। तो बाहर जाकर क्या करना चाहते हो? क्या करोगे, बता दो और बाहर जाकर जो करना चाहते हो, वो करो।" बच्चे काफी हैरान थे और हँस भी रहे थे। शायद उन्हें समझ नहीं आ रहा था कि यह मज़ाक चल रहा है या सही में उन्हें उनकी बेतुकी-सी चाहत की इजाज़त दी जा रही थी। क्योंकि हम मज़ाक नहीं कर रहे थे, हमारे चेहरे से गम्भीरता झलक रही थी।

चम्पा ने कहा कि वह सर्वे करना चाहता है कि लोग शराब क्यों पीते हैं। दिव्या ने कुछ और बताया। एक-दो बच्चे और सर्वे की इच्छा जताकर बाहर निकल गए। जो बच्चे रह गए, वे भी हैरान थे। खैर, ये बच्चे दो-तीन दिन तक क्लास में बैठने नहीं आए। किसी ने बताया कि ये लोग कोई सर्वे नहीं कर रहे। ये तो चाटली जाकर क्रिकेट मैच देखते रहते हैं। दो-तीन दिनों के बाद ये सब बच्चे अपने आप ही क्लास में आकर बैठने लगे। किसी ने कहा कि इन्हें लगा होगा कि दूसरे बच्चे कुछ सीख जाएँगे और ये रह जाएँगे। लेकिन जब ये वापस आए तो इन्होंने बताया कि दो दिन इन सबने क्या-क्या किया। इसमें उन्होंने क्रिकेट मैच के बारे में भी बताया और शराब के सर्वे के बारे में भी।

बाद तक हमें वॉलंटियर बताते थे कि उनका आधा दिन तो बच्चों को ढूँढने में ही चला जाता है। वे क्लास में नहीं बैठते। हमने समझ लिया था कि ऐसा क्यों होता होगा। बच्चे अपने जानवर चराने के लिए गाँव में दिनभर घूमते थे। नदी पर जाते थे, खेलते थे। एक जगह बैठकर कुछ करना, उनके

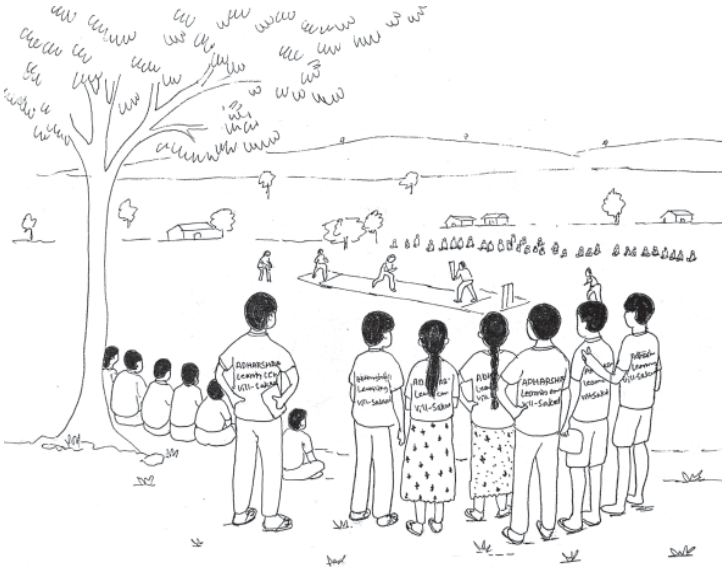

लिए बहुत ही बोरिंग होता होगा। गाँव के जीवन में कुछ-न-कुछ होता रहता था। तो यदि उन्हें एक जगह बैठकर कुछ बोरिंग काम करते रहने की आदत डालने में समय लग रहा था, तो ठीक ही था।

* * *

बच्चे अपनी बात खुलकर कह सकें, इसके लिए तीन प्रमुख व्यवस्थाएँ थीं - बच्चों का मंत्रीमण्डल, स्वशासन व साप्ताहिक अखबार।

बच्चों का मंत्रीमण्डल

जब भी आधारशिला में कोई मेहमान आते थे तो अमूमन वे हमारे घर के बरामदे में आकर बैठते थे। बच्चे उन्हें देखने के लिए भीड़ लगा देते थे। थोड़ी देर में कोई बच्चा पानी ले आता था। आम तौर पर यह बच्चा स्कूल का मेहमान मंत्री होता था। अगर नहीं लाता था तो मेहमान मंत्री को ढूँढा जाता था। यदि अतिथी रुकने वाले होते थे तो मेहमान मंत्री उन्हें कमरा दिखाता था। मेहमान-रूम की सफाई करता था और मेहमान के लिए बालटी, मग, गिलास आदि कमरे में रखवाता था। मेहमान के वापस जाने पर ये सब सामान वापस रखने की ज़िम्मेदारी भी उसकी ही होती थी।

स्कूल चलाने के प्रत्येक पहलू में बच्चों का सहभाग होता था। आवासीय स्कूल होने के कारण यहाँ बहुत सारे काम होते थे। सभी कामों की लिस्ट बनाई गई और प्रत्येक काम को देखने के लिए बच्चों में से ही मंत्री बनाए गए - मेहमान मंत्री, शिक्षा मंत्री, खेल मंत्री, मेस मंत्री, बैंक मंत्री, स्वास्थ्य मंत्री, झगड़ा मंत्री, सफाई मंत्री, खेती मंत्री, श्रमदान मंत्री और

एक टीवी मंत्री भी था। प्रत्येक मंत्री का एक सहयोगी भी था। सभी मंत्रियों को शिक्षकों के बीच बाँट दिया गया। यह अपेक्षा थी कि शिक्षक इन मंत्रियों को गाइड करेंगे और देखेंगे कि जो ज़िम्मेदारी दी गई है, वह पूरी हो रही है या नहीं। सभी मंत्रियों की नियमित मीटिंग होती थी या अलग से बुलाकर हम या शिक्षक उनके काम के बारे में बातचीत करते थे।

सबसे अधिक ज़िम्मेदारी तो मेस मंत्री की होती थी। उसे रोज़ आटा-दाल तोलकर निकालना होता था। इसके अलावा श्रमदान मंत्री को बताकर, श्रमदान के समय बच्चों के समूह से गेहूँ साफ करवाना, उसे पिसवाने भेजना, खाना बनाने में मदद करने के लिए टीम की ड्यूटी लगाना आदि। रसोई की साफ-सफाई देखना, हाट के दिन सब्ज़ी लाना, खाना बाँटना – बहुत-से काम होते थे। इसके लिए सबकी बारी लगती थी। एक बार पता चला कि मेस मंत्री ज़्यादा रोटियाँ ले लेते हैं और पहले ही खा लेते हैं। तेल भी अलग से डाल लेते हैं। पूछने पर बहुत सामान्य चेहरे से उसने बताया कि हम मंत्री हैं तो ले लेते हैं! (यह तो हमारा हक ही है न!) गाँव के अनुभवों के आधार पर उन्हें इसमें कुछ गलत नहीं लगता था। गाँव के सरपंच व पंचायत मंत्री भी तो अपने लिए कुछ-न-कुछ निकाल लेते हैं।

टीवी मंत्री सबसे चुस्त रहता था। प्रत्येक रविवार को बच्चों को फिल्म दिखाने का वायदा किया गया था। तय समय पर वो ज़रूर ही प्रकट हो जाता था। टीवी व सीडी प्लेयर हॉल में ले जाना, फिल्म की सीडी चुनना, बच्चों को शान्ति से बिठाना और फिल्म पूरी होने के बाद सारी चीज़ें सम्भालकर वापस रखना। यह सब टीवी मंत्री एवं उसका सहयोगी खुशी से करते थे।

श्रमदान मंत्री का काम सबसे टेढ़ा था क्योंकि बहुत काम होता था। खास तौर पर खेती के समय। बहुत बार खाना बनाने के लिए दो या तीन की जगह एक ही महिला मौजूद होती थी तो खाना बनाने में भी बच्चों को मदद करनी पड़ती थी। कभी-कभी तो पूरा खाना शिक्षक और बच्चे ही बनाते थे। यह काम बहुत कठिन था। काम कभी खत्म ही नहीं होता था। ये सारे काम ठीक से करवाना श्रमदान मंत्री और शिक्षक की ही ज़िम्मेदारी होती थी। श्रमदान मंत्री सफाई की बारी और गाय चराने की बारी भी लगाता था। हालाँकि, एडमिशन के समय बताया जाता था कि यहाँ बच्चे पढ़ाई के साथ-साथ बहुत काम भी करते हैं, लेकिन बच्चों को तो ज़्यादा काम करना अच्छा नहीं लगता था। बड़े बच्चों पर अधिक भार पड़ता था तो वे आना-कानी करते थे। खेती, सफाई, सब्ज़ी, प्लॉट के काम – बहुत-से काम होते थे। प्रतिदिन एक घण्टा श्रमदान करना होता था।

आधारशिला में किसी भी बड़े खेती वाले सामूहिक परिवार की तरह बहुत सारे विभिन्न तरह के काम होते थे - खेती से सम्बन्धित अनेक काम, सफाई, पढ़ाई, बच्चों का स्वास्थ्य, भोजन, सब्ज़ियाँ उगाना, पेड़ लगाना, सर्वे, परीक्षा, नाटक, शैक्षणिक भ्रमण, वार्षिक उत्सव, बाज़ार से सामान लाना, जानवरों की देखभाल, सैकड़ों तरह-तरह के औज़ारों व खिलौनों आदि को व्यवस्थित रखना, लाइब्रेरी और पता नहीं क्या-क्या। बिना इन मंत्रियों के स्कूल का जीवन-चक्र चलाना असम्भव था। इससे बच्चे निश्चित ही ज़िम्मेदार बने होंगे लेकिन अन्ततः मंत्री काम करवाने वाले कार्यकर्ता के रोल में आ गए। फिर भी उनके घरों में जितना काम उन्हें करना पड़ता था, उससे यह कम था। और साथ में अच्छी-खासी पढ़ाई कर रहे थे। बोर्ड परीक्षाओं में अच्छे अंक ला रहे थे और कभी-कभी राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में भी अव्वल आ रहे थे। खेल में भी आधारशिला की टीम ज़िले स्तर पर पहुँच रही थी। मेहनत वसूल!

स्वशासन मीटिंग

ए.एस. नील की पुस्तक *समरहिल* पढ़कर हम लोग इसकी दो बातों से बहुत प्रभावित हुए थे। एक तो यह कि इस स्कूल में शिक्षक तो प्रतिदिन एक निश्चित टाइम टेबल के हिसाब से क्लास लगाते थे लेकिन बच्चे अपनी मर्ज़ी से ही क्लास में जाते थे। बच्चों को क्लास में जाना अनिवार्य नहीं था। दूसरी बात इनकी मीटिंग्स, जिनमें स्कूल सम्बन्धित सभी निर्णय वोट

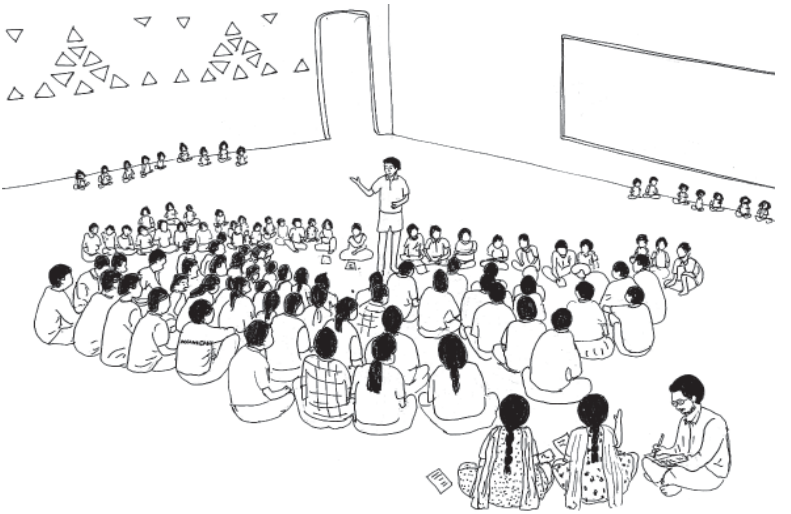

द्वारा लिए जाते थे। मीटिंग में बच्चे-बड़े, सबका एक-एक वोट होता था और किसी के पास भी वीटो पावर नहीं होता था।

हमने *आधारशिला* में भी ऐसी मीटिंग शुरू कर दी जिसे हम स्वशासन मीटिंग कहते थे। इसमें बच्चे स्कूल सम्बन्धी कोई भी बात कह सकते थे, जैसे खाने में मिर्च ज़्यादा डालना चाहिए, श्रमदान कम समय के लिए करना है आदि। शुरू में हम लोग भी इन मीटिंग में बैठते थे लेकिन फिर हमने जाना बन्द कर दिया। ऐसा इसलिए कि हमें लगा कि हमारी बातों से बच्चों के निर्णय प्रभावित हो जाते हैं। शिक्षकों को भी सख्त हिदायत थी कि वे केवल मीटिंग का ब्यौरा लिखें और पूछे गए सवालों का जवाब दें। यह व्यवस्था बच्चों की बात सुनने के लिए बनाई गई थी तो शिक्षकों को केवल सुनना ही था।

इसमें उनकी माँगें भी होती थीं और शिकायतें भी। मेस सम्बन्धित शिकायतें अधिक होती थीं। शिक्षकों के व्यवहार को लेकर भी बच्चे बोल देते थे। पिछली मीटिंग में किसी बात के लिए माँग की गई हो और वो काम नहीं हुआ हो तो शिक्षकों को डाँट भी सुननी पड़ जाती थी। "दो-तीन मीटिंग से हम बैट माँग रहे हैं लेकिन अभी तक नहीं आया है," ऐसे डायलॉग सुनने को मिलते थे इन मीटिंग में। जब स्कूल के काम अधिक हो जाते थे जैसे खाना बनाना, खेत का खूब सारा काम आदि तब बहुत शिकायतें आती थीं क्योंकि इसका अधिकतर भार बड़े बच्चों पर पड़ता था। इस मीटिंग में मंत्री अपना त्यागपत्र भी दे देते थे। जब शिक्षकों के जवाबों से बच्चे सन्तुष्ट नहीं होते थे तब हमें बुलाया जाता था। बहुत ज़्यादा तना-तनी होने पर हम समझाने और सुलझाने जाते थे।

इस मीटिंग में कई बार हम कुछ विषयों पर बच्चों की राय भी लेते थे। जैसे ड्रेस होनी चाहिए या नहीं, परीक्षा कब हो, छुट्टियाँ कब हों आदि। ड्रेस पर बहुत चर्चा हुई। सबको लग रहा था कि यहाँ भी अन्य स्कूलों की तरह ड्रेस होनी चाहिए लेकिन रिंदू और जमुना ने कहा कि नहीं होनी चाहिए। उनका कहना था कि हमारा तो आदिवासी स्कूल है इसलिए बच्चों को आदिवासी पहनावे में ही रहना चाहिए।

शुरू में हम भी ड्रेस के पक्ष में नहीं थे क्योंकि यूनिफॉर्मिटी हमें अच्छी बात नहीं लगती थी। और यह भी था कि बच्चा जैसे घर में रहता है वैसे ही यहाँ भी रहे। शुरू के बैच के बच्चे घर वाले कपड़ों में ही रहते थे लेकिन बाद के सालों में बच्चे महँगे कपड़े पहनकर आने लगे। तब हमें यूनिफॉर्म का रोल समझ आया और इसे लागू किया गया।

स्वशासन मीटिंग समरहिल जैसी निर्णायक नहीं होती थी। स्कूल कैसे

चलेगा या क्या होगा, क्या नहीं – ये फैसले हम सब शिक्षक ही मिलकर लेते थे। हमारी इच्छा थी कि सभी निर्णयों में बच्चों का पूरा सहभाग हो, केवल सहयोग न रह जाए। लेकिन ऐसा बहुत कम होता था। इसके बावजूद यह बहुत ही लोकप्रिय व्यवस्था थी। इस मीटिंग का सबको इन्तज़ार रहता था और यह घण्टों चलती थी। जब कभी मीटिंग बहुत समय तक न हो पाती तो बच्चे याद दिलाकर इसे करवाते थे। यह आधारशिला की एक अच्छी और प्रभावी प्रथा बन गई थी जो आखिरी सालों तक चलती रही।

आज की ताज़ा खबर

साप्ताहिक अखबार में कृष्णा, अमेज़न, नील और ऑक्टोपस ग्रुप का एक-एक बच्चा रहता था (उम्र 10 से 13 वर्ष के आधार पर)। प्रत्येक शुक्रवार को अखबार बनाया जाता था और शनिवार को सवेरे असेम्बली में या बालसभा में पढ़ा जाता था। धीरे-धीरे बच्चों को अखबार बनाने में मज़ा आने लगा। उसमें क्या खबरें डालनी हैं, यह निर्णय पूरी तरह से बच्चों का होता था। शिक्षकों से पूछने की ज़रूरत नहीं थी, न शिक्षक को कोई सुझाव देने थे। हालाँकि, हमारी नज़र में कभी ऐसा नहीं लाया गया, लेकिन शायद कभी ऐसा होता ही होगा कि शिक्षक ने हस्तक्षेप करके कोई खबर डलवा दी हो या रुकवा दी हो। यह बहुत मज़ेदार बात थी कि बच्चे स्कूल सम्बन्धी और शिक्षकों के व्यवहार सम्बन्धी खबरें भी इसमें डालते थे। मेस तो सबसे लोकप्रिय विषय होता था - रोटियाँ जली बनीं, या कम पड़ गईं, एक ही तरह की सब्ज़ी बनाई जा रही है आदि। शिक्षकों द्वारा बच्चों की पिटाई की खबरें भी छपती रहती थीं। आपसी झगड़ों की भी। अखबार को स्केच पेन से सजाया जाता था।

एक मज़ाक और कोई सुवाच भी बच्चे ढूँढकर लिखते थे। साथ ही, दैनिक अखबार से कोई महत्वपूर्ण खबर लेकर भी डालते थे।

आधारशिला में अँग्रेज़ी ठीक से पढ़ाने वालों की बहुत कमी रहती थी। अधिकतर हम पर ही यह ज़िम्मेदारी आ जाती थी। एक बार अँग्रेज़ी पढ़ाने वाले एक शिक्षक आए। ये शिक्षक आदिवासी थे तो हमें और भी खुशी हुई। अँग्रेज़ी में एम.ए. किया था और बताया था कि प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठने वालों के लिए अँग्रेज़ी की कोचिंग करते हैं। वे स्कूल आकर अँग्रेज़ी पढ़ाने लगे। एक बार वे कावेरी ग्रुप की क्लास में पेड़ की एक लकड़ी लेकर गए और बहुत सख्त शिक्षक के अन्दाज़ में क्लास चलाई। बच्चों ने उन शिक्षक से कहा कि *आधारशिला* में शिक्षकों को लकड़ी नहीं लाने देते। उन्होंने बच्चों को चुप करवाया। डाँट भी लगा दी और एकाध बच्चे को

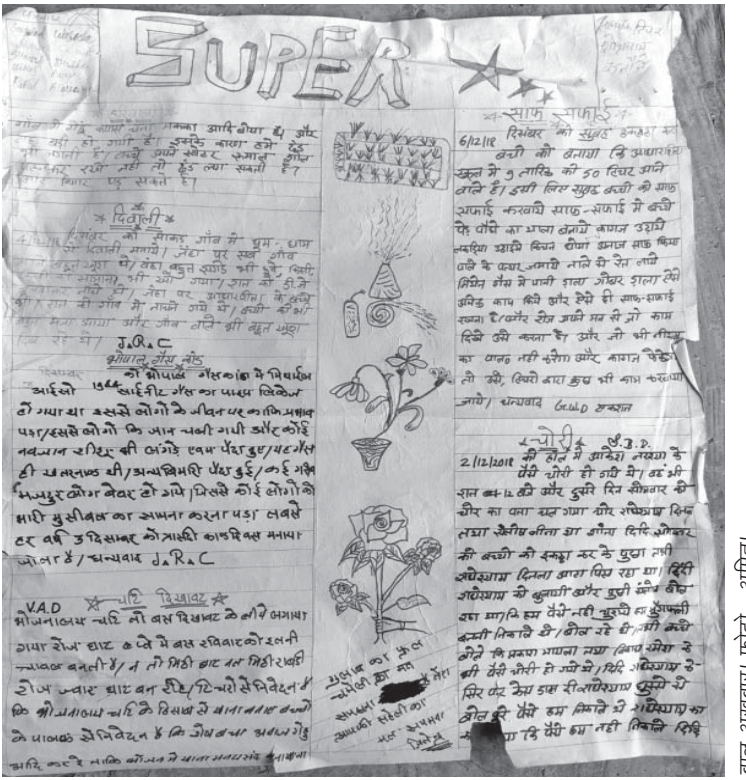

बाल अखबार। फोटो - अमिता।

छड़ी भी पड़ गई। फिर किसी बच्चे ने कहा कि "सर, यहाँ बच्चों को मारने की इजाज़त नहीं है।" उस शिक्षक ने कहा, "इस क्लास में जो मैं चाहूँगा, वही होगा।" फिर बच्चों को कुछ होमवर्क दिया, सख्त हिदायत के साथ कि जो नहीं करके आएगा, उसे दण्ड मिलेगा।

बच्चों ने क्लास से निकलते ही, '*आधारशिला* में डण्डा चल गया' चिल्लाते हुए शोर मचाया और अगली क्लास के लिए चले गए। उस सप्ताह जो अखबार छपा, उसमें यह प्रमुख खबर बन गई। जब नए शिक्षक को यह पता चला तो वे अखबार बनाने वाले बच्चों के पास गए और इस खबर को हटाने के लिए कहा, "शिक्षक के बारे में ऐसे नहीं लिख सकते।" बच्चों ने कहा कि "अखबार में हम जो भी चाहें, लिख सकते हैं। हमें कोई नहीं रोकता।" यह खबर पढ़ी गई। असेम्बली में बच्चे तिरछी नज़रों से शिक्षक को देख रहे थे और मुस्कुरा रहे थे। बाद में उस शिक्षक को *आधारशिला* में नहीं रखा गया। उन्हें भी समझ में आ गया कि यह जगह उनके लायक नहीं है।

अपनी बात कह पाने के साथ-साथ बच्चों का लिखने का भी अच्छा अभ्यास होता था। अधिकतर अखबार बहुत मेहनत से निकाले जाते थे और बच्चे इसमें मन लगाकर काम करते थे। वे पूरा दिन अखबार निकालने में लगे रहते थे।

* * *

बाहर से बहुत-से लोग *आधारशिला* का काम देखने आते थे। *आधारशिला* अपने समय से आगे था। वे कहते कि यहाँ का सिस्टम कुछ समझ में नहीं आता। दो-चार दिन बाद कहते, सिस्टम तो समझ में नहीं आ रहा लेकिन काम तो किसी तरह हो रहा है। बच्चे चुपचाप पढ़ते हुए भी दिखते थे। वही बच्चे खेलते भी थे, काम भी करते थे व मस्ती भी करते रहते थे।

जब एक जगह 100 से अधिक बच्चे हों, और उन बच्चों को आज़ादी देने, वे जो कर रहे हैं उसे करने देने और ज़्यादा टोका-टाकी न करने से निश्चित ही एक कोलाहल और अस्तव्यस्त-सी स्थिति लगती है, खास तौर से बाहर से आने वालों को। एक बार यहाँ एक नया युवा शिक्षक पढ़ाने आया। वह ज़िले के सबसे जाने-माने मॉडल स्कूल से पढ़ा था। कुछ नहीं बोलता था। एक सप्ताह बाद जब उससे टीचर्स-मीटिंग में पूछा कि कैसा लग रहा है तो थोड़ी देर चुप रहने के बाद वह उबल पड़ा, "यह स्कूल है कि ढोर वाड़ा!" सब पुराने लोग हक्का-बक्का रह गए। सबको हँसी भी आई। वह शिक्षक मॉडल स्कूल में कड़े अनुशासन में रहा था। उसने कहा, "वहाँ तो मैंने इतने सालों में शिक्षकों के सामने मुँह भी नहीं खोला। कमीज़ की बाँह का बटन भी टूटा होता था तो डाँट पड़ती थी। और यहाँ तो कोई हिसाब ही नहीं है। शिक्षक के सामने

बच्चे हँस रहे हैं, चिल्ला रहे हैं, लाइन में खड़े ही नहीं हो रहे और कैसे भी कपड़े पहनकर आ जाते हैं क्लास में।" धीरे-धीरे उन्हें यहाँ का रवैया समझ आया और हमने भी कुछ अनुशासन लागू किया। लोकतंत्र काफी अस्तव्यस्त हो सकता है। इसे पचाने के लिए भी खूब सारा धैर्य और मन की ट्रेनिंग ज़रूरी है। जो लोग ऐसे माहौल में पले हों, उनके लिए शायद यह थोड़ा आसान हो।

पालकों को भी यहाँ के तरीके अटपटे लगते थे। कुछ लोग अपने बच्चों को यहाँ से निकाल लेते थे। कुछ अपने आप को समझाते थे कि जो भी हो, पढ़ाई अच्छी है। कई बार हम लोग भी अव्यवस्था से तंग आ जाते थे और कड़क हो जाते थे। हमने देखा कि बच्चों को भी व्यवस्था चाहिए होती है। एक ढाँचे के अन्दर जब उन्हें अपने मन की करने की आज़ादी मिलती है तो सबसे अच्छा होता है। इस सबसे भी स्वशासन की बात हमें बहुत ज़रूरी लगी। कोई देख रहा है इसलिए अपना काम करना है, यह सही नहीं है। हमें अपने काम खुद ही करते रहना है क्योंकि वे ज़रूरी हैं। यह बात बच्चों को भी पढ़ाई के सम्बन्ध में समझ आ गई थी। बिना शिक्षक के बच्चों को पढ़ता देख, लोग बहुत आश्चर्य करते थे। बच्चे स्वतंत्र हैं, यह भी सबको समझ में आता था। लोकतंत्र में स्वशासन बहुत ज़रूरी है। काफी हद तक बच्चों में अपने आप पढ़ने की आदत बन जाती थी, खास तौर से जब पूरे स्कूल में ऐसा माहौल हो।

जनसहयोग से खड़ा हुआ सपना

आधारशिला के बनने की कहानी भी एक अद्भुत सामूहिक प्रयास की कहानी है। जनता के संस्थानों को बनाने में रुचि रखने वालों के लिए यह जानना बहुत ज़रूरी है। अलीराजपुर में हमारे जन संगठन के काम का एक मूल मंत्र यह था कि जो कुछ भी होना है, वह लोगों की ताकत और सहयोग के बल पर ही होना है। आर्थिक सहयोग भी लोगों से ही आना है। इसके बावजूद कि अलीराजपुर ज़िले के लोगों की गिनती देश के सबसे गरीब लोगों में होती थी, सभी रैलियों आदि में लोग चन्दा करते थे – चार आने, एक रुपया, मुर्गी बेचकर बस किराया भरते थे। बैनर आदि का खर्च सब लोगों के चन्दे से निकलता था। दूर की रैलियों में हम छः-छः घण्टे ट्रकों में खड़े होकर जाते थे। ट्रक मालिक का फटे दस-दस के नोटों और चिल्लरों से हज़ारों रुपयों का पेमेंट होता था। यह सब बताने का अर्थ यह है कि लोगों के काम उनके स्वयं के पैसे और श्रम से ही होने चाहिएँ, यह बात हम दोनों में कूट-कूटकर भरी थी (उस समय)।

हमारा आग्रह था कि *आधारशिला* स्थानीय समाज का स्कूल हो। इसके

लिए ज़रूरी था कि इसके बनने की पूरी प्रक्रिया भी लोगों के साथ मिलकर और उनके द्वारा ही हो। *आधारशिला* की कल्पना, एक शोषणमुक्त समाज बनाने व उनकी ज़िन्दगियों को बेहतर करने के आदिवासियों के संघर्षों से अन्तरंग रूप से जुड़ी हुई थी। अलग से इसका कोई महत्व नहीं था। इस काम को सेंधवा में कार्यरत आदिवासी मुक्ति संगठन के साथ मिलकर सोचा और शुरू किया गया था।

ज़मीन ढूँढने से लेकर स्कूल के हॉल, रसोई, हमारा घर बनाने के लिए ईंट, लोहा, छत के लिए चद्दर, दरवाज़े-खिड़की – सारा सामान आदिवासी मुक्ति संगठन ने सक्षम लोगों से चन्दा लेकर इकट्ठा किया था। संगठन ने कुसमिया गाँव के वरिष्ठ कार्यकर्ता, खूमसिंह भाई को निर्माण कार्य देखने के लिए तैनात किया। वे स्कूल बनने तक पूरे समय यहाँ पर डटे रहे। घरों की जुड़ाई मिट्टी से की गई। सीमेंट केवल खम्बों में लगाई गई। मिस्त्री भी श्रमदान करने आए। मिस्त्री की मदद और नींव खोदने आदि कामों के लिए संगठन के गाँवों से बारी-बारी से लोग आते रहे। पूरे इलाके में यह बात फैल गई थी कि साकड़ में मुक्ति संगठन का स्कूल बन रहा है। साकड़ गाँव के लोगों ने बहुत सहयोग किया। रात-रात तक साकड़ के लोगों को इकट्ठा करके नींव खोदी गई। बहुत-से लोगों ने यहाँ आकर श्रमदान किया।

लोकतांत्रिक स्कूल की चर्चा में यह सब बताना इसलिए ज़रूरी समझा क्योंकि इससे फिर एक बार इस विचार की पुष्टि हुई कि लोग यदि ठान लें तो अपने लिए स्कूल जैसे खुद के संस्थान खड़े कर सकते हैं। यह बहुत ताकत देने वाली बात थी क्योंकि इसकी चर्चा जब हमने मित्रों से की थी तो सभी ने यह

सुझाया था कि ऐसे कामों के लिए तो संस्थागत फण्ड लाना पड़ेगा। लेकिन अलीराजपुर में खेड़ुत मज़दूर चेतना संगठ के काम ने हमें यह दृढ़ विश्वास दिलाया था कि लोगों की ताकत से बड़े-बड़े संघर्ष किए जा सकते हैं।

केवल स्कूल बनना ही नहीं, *आधारशिला शिक्षण केन्द्र* 22 सालों तक किसी भी प्रकार की संस्थागत फण्डिंग के बिना चला। यह एक आवासीय स्कूल था जहाँ डेढ़ सौ से अधिक बच्चे रहते थे। पालक अनाज, दाल व कुछ फीस देते थे। गाँव से, मित्रों से चन्दा इकट्ठा किया जाता था। बच्चों द्वारा बनाई गईं कलाकृतियाँ बेचकर, नाटक दिखाकर भी कुछ राशि जमा होती थी। खेत में सब्ज़ियाँ उगाई जाती थीं। डेढ़ सौ बच्चों का मेस चलाने के लिए सब्ज़ी उगाने के लिए इस बंजर ज़मीन को उपजाऊ बनाने की तो अलग ही कहानी है!

***

लोकतंत्र खतरे में है - आजकल यह बात हम बहुत सुनते हैं। राजनैतिक स्तर पर एक प्रतिनिधि चुनने के लिए चुनाव व्यवस्था की गई जिसे हम लोकतंत्र कहते हैं। हम दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र हैं - यह वाक्य हम आदतन कहते हैं और इसमें थोड़ा गर्व महसूस करते भी हैं क्योंकि हमने अनायास यह सीखा है कि हर बड़ी, सबसे बड़ी चीज़ अच्छी ही होगी। असल में, आम जनता कभी लोकतंत्र की बात नहीं करती। केवल कुछ सामाजिक कार्यकर्ता ही इस शब्द का प्रयोग करते हैं। पिछले कुछ सालों में मीडिया में और विपक्ष के राजनेताओं के भाषण में भी यह शब्द सुनाई देने लगा है।

डॉ. अम्बेडकर ने संविधान के सन्दर्भ में अपने एक भाषण में कहा था कि राजनैतिक लोकतंत्र तो हमने संविधान में लिखकर और उसके लिए कुछ व्यवस्थाएँ बनाकर हासिल कर लिया लेकिन जब तक समाज में लोकतंत्र स्थापित नहीं होगा तब तक राजनैतिक लोकतंत्र सफल नहीं होगा। *आधारशिला* के पाठ्यक्रम के बारे में सोचते समय यह बात मन में थी कि यदि देश में लोकतंत्र कारगर तरीके से चलना है तो लोगों को बचपन से लोकतंत्र का अनुभव होना तो लाज़मी है न। हमारा समाज ऐसा है जिसमें अधिकांश पारम्परिक परिवारों में लोकतंत्र मौजूद नहीं होता। बिलकुल स्पष्ट होता है कि घर का मुखिया परिवार का कोई वरिष्ठ पुरुष ही होता है, जिसकी घर में सबसे ज़्यादा चलती है। और हमें बचपन से संस्कारित किया जाता है कि बड़ों की बात माननी चाहिए। इसलिए यह बुरा भी नहीं लगता लोगों को। एक परिवार में भाइयों, पत्नियों, महिलाओं, बच्चों - सबको अपनी भूमिका पता रहती है। इस भूमिका को अच्छे से निभाने पर ही परिवार और समाज में आपकी पीठ ठोंकी जाती है।

जो लोग गाँव में रहते हैं, उन्होंने भी अपने जीवन के अनुभव से यही बात आत्मसात की कि गाँव के पटेल, सरपंच आदि प्रमुख लोगों की ही बात गाँव में चलती है। या जो सरकार के निचले स्तर के नुमाइन्दे हैं, उनके हाथ में ही सारे काम और ताकत रहते हैं। इन लोगों को नाराज़ करने से अपने पर बुरे असर पड़ते हैं। नियम-कानून की कोई खास भूमिका दिखाई नहीं देती। वैसे भी स्कूलों में जिस तरह से हमें इतिहास पढ़ाया जाता रहा है, उससे भी अधिकतर लोगों के मन में जो सर्वोत्तम राजनैतिक व्यवस्था की कल्पना है, वह एक अच्छे दयालु राजा की है।

यह सब कहने का अर्थ यही है कि अपने देश की आम जनता को लोकतंत्र का न तो कोई अनुभव होता है और न ही इसके प्रति कोई भाव है जिससे यह उन्हें ज़रूरी लगे।

स्कूल में भी बच्चा शिक्षक, पाठ्यक्रम, प्रिंसिपल की सीढ़ी में सबसे नीचे के पायदान पर होता है। स्कूल-कॉलेज के पूरे अनुभव में बच्चे से कभी नहीं पूछा जाता कि वो क्या सीखना या करना चाहता है। काम की जगह पर भी बॉस से लेकर सबसे कम तनख्वाह वाले कर्मचारी तक, एक स्पष्ट ऊँच-नीच की सीढ़ी होती है। परिवार, समाज, स्कूल, कार्यस्थल, राजनैतिक व्यवस्था और पार्टी को देखने पर भी लोकतंत्र कहीं से भी समझ में नहीं आता। लड़कियों को तो सिखाया ही जाता है कि उन्हें पिता, भाई, पति और बाद में बेटे की बात सुनना है।

ऐसे में, शिक्षा संस्थान क्या एक ऐसी जगह हो सकती है जहाँ बच्चों

को लोकतंत्र का अनुभव दिया जा सकता हो? इसी प्रश्न को लेकर *आधारशिला* में बच्चों को लोकतांत्रिक मूल्यों का एहसास दिलवाने के लिए ये सब काम किए गए।

अमित और जयश्री: लगभग तीन दशकों से पश्चिम मध्य प्रदेश में भील, भीलाला और बारेला आदिवासियों के बीच में रह रहे हैं। साथ ही, खेड़ूत मज़दूर चेतना संगठ, नर्मदा बचाओ आन्दोलन व पश्चिम भारत प्रवासी मज़दूर संघ के साथ-साथ आदिवासियों के अन्य संघर्षों के साथ भी खड़े हैं। 1998 से आदिवासी बच्चों व युवाओं की शिक्षा के लिए काम कर रहे हैं।

सभी चित्र: भाग्यश्री: प्रकृति प्रेमी, शिक्षा कर्मी, स्वतंत्र चित्रकार और फोटोग्राफर हैं। रियाज़ अकैडमी ऑफ इलस्ट्रेटर्स, भोपाल से इलस्ट्रेशन का कोर्स किया है। *एकलव्य* संस्था में कुछ वर्षों तक काम करने के बाद, वे इन दिनों अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, खरगोन, मप्र में रिसोर्स पर्सन के रूप में कार्यरत हैं। उनकी कला और काम, बच्चों की कल्पनाओं से प्रेरित हैं और ज़मीन से जुड़ी कहानियाँ कहने की कोशिश करते हैं।